Shodh Sangam Patrika
E-ISSN: 3049-0707, Volume 3 | Issue 1 | (Jan – Mar 2026)

हिन्दी-उर्दू विवादः संवाद की भाषा से विवाद की भाषा तक

डॉ. मनीष कुमार भारती
पोस्ट डॉक्टरल फेलो, हिन्दी विभाग, महात्मा गाँधी केन्द्रीय विश्वविद्यालय
मोतिहारी, बिहार- 845401

भूमिका

भारत की भाषाई परंपरा का मूल स्वभाव संवाद, सहअस्तित्व और सांस्कृतिक समन्वय में निहित रहा है। यहाँ भाषा कभी केवल अभिव्यक्ति का साधन नहीं रही, बल्कि सामाजिक संबंधों को जोड़ने वाली वह जीवंत शक्ति रही है, जिसके माध्यम से विविध धार्मिक आस्थाएँ, जीवन-मूल्य और सांस्कृतिक अनुभव एक-दूसरे से संवाद करते रहे हैं। उत्तर भारत में सदियों तक प्रचलित वह लोकभाषा—जिसे कभी हिन्दवी, कभी हिन्दुस्तानी और कभी खड़ीबोली कहा गया—जनसामान्य की संवेदना, विचार और व्यवहार की साझा अभिव्यक्ति थी। साधु-संतों की वाणी, सूफी कवियों का प्रेमसंदेश और लोकजीवन की सहज अभिव्यक्तियाँ इसी भाषा के माध्यम से समाज के विभिन्न वर्गों तक पहुँचीं। इस भाषा ने न किसी धार्मिक सीमा को स्वीकार किया और न किसी सांस्कृतिक दीवार को; उसका स्वरूप स्वाभाविक रूप से समावेशी और संवादधर्मी था। किन्तु इतिहास की विडंबना यह रही कि यही साझा संवाद-भाषा आगे चलकर हिन्दी और उर्दू के रूप में दो पृथक भाषाई पहचानें ग्रहण करने लगी । यह विभाजन भाषिक विकास की स्वाभाविक प्रक्रिया का परिणाम नहीं था, बल्कि औपनिवेशिक हस्तक्षेप और आधुनिक राजनीति की देन था। ब्रिटिश शासन ने प्रशासनिक सुविधा और सत्ता के विस्तार के लिए भाषाओं को वर्गीकृत किया, उन्हें लिपि, शब्दावली और धार्मिक पहचान से जोड़कर अलग-अलग खाँचों में बाँट दिया। परिणामस्वरुप, जो भाषा कभी सांस्कृतिक साझेदारी का माध्यम थी, वही औपनिवेशिक काल में विवाद, विभाजन और राजनीतिक टकराव का कारण बन गई। हिन्दी–उर्दू विवाद वस्तुतः दो भाषाओं के बीच का संघर्ष नहीं, बल्कि सत्ता, पहचान और वर्चस्व की राजनीति से उपजा हुआ संघर्ष है। भाषा यहाँ संप्रेषण का साधन न रहकर सामाजिक अस्मिता और राजनीतिक प्रभुत्व का प्रतीक बन गई। हिन्दी को 'हिन्दू पहचान' और उर्दू को 'मुस्लिम पहचान' से जोड़ने की प्रवृत्ति ने भाषा को संवाद के धरातल से हटाकर टकराव के मंच पर ला खड़ा किया। इस प्रक्रिया में भाषा की मानवीय और सांस्कृतिक भूमिका पीछे छूट गई और वह विवाद का औज़ार बनकर रह गई ।

बीज शब्दः लोकजीवन, सहअस्तित्व, सांस्कृतिक समन्वय, साझा-संवाद, औपनिवेशिक हस्तक्षेप, राजनीतिक प्रभुत्व, सामाजिक अस्मिता, वर्चस्व, विडंबना आदि ।

मूल आलेख

हिन्दी और उर्दू को प्रायः दो अलग–अलग भाषाओं के रूप में देखा जाता है, किन्तु भाषावैज्ञानिक और ऐतिहासिक दृष्टि से दोनों की जड़ें एक ही भाषिक वृक्ष में निहित हैं। इनका मूल स्रोत एक ही है और इनका विकास भी एक साझा भाषिक परंपरा के भीतर हुआ है। वस्तुतः हिन्दी और उर्दू कोई दो स्वतंत्र भाषाएँ नहीं , बल्कि एक ही भाषा की दो ऐतिहासिक और सांस्कृतिक अभिव्यक्तियाँ हैं, जिन्हें समय, सत्ता और सामाजिक परिस्थितियों ने अलग–अलग नाम और रुप प्रदान कर दिए। उर्दू भाषा का विकास उसी हिन्दी भाषा की एक सशक्त शाखा के रुप में हुआ, जो सदियों तक दिल्ली, मेरठ और पश्चिमी उत्तर प्रदेश के क्षेत्रों में जनसामान्य

द्वारा बोली जाती रही। यह वही भाषा थी, जिसमें स्थानीय बोलियों की सहजता, लोकजीवन की सजीवता और दैनिक व्यवहार की सरलता समाहित थी। भाषावैज्ञानिक दृष्टि से इसका सीधा संबंध शौरसेनी अपभ्रंश से माना जाता है, जो संस्कृत से विकसित होकर मध्यकाल में उत्तर भारत की प्रमुख लोकभाषा बनी। इसी शौरसेनी परंपरा से आगे चलकर जिस भाषा का विकास हुआ, उसे 'पश्चिमी हिन्दी' कहना अधिक उपयुक्त होगा। यह पश्चिमी हिन्दी ही आगे चलकर उर्दू भाषा की जननी बनी। आरंभिक उर्दू का स्वरूप किसी विदेशी भाषा का अनुकरण नहीं था, बल्कि यह भारतीय भूमि पर विकसित एक स्वदेशी भाषा थी, जिसमें स्थानीय व्याकरण, ध्वनि-संरचना और वाक्य-विन्यास पूरी तरह भारतीय थे। बाद के ऐतिहासिक संपर्कों के कारण इसमें फ़ारसी और अरबी शब्दों का समावेश अवश्य हुआ, किन्तु उसकी भाषिक आत्मा भारतीय ही रही। इसी प्रकार हिन्दी ने भी समय के साथ संस्कृतनिष्ठ शब्दावली को अधिक ग्रहण किया, परंतु दोनों की मूल संरचना और आधारभूत ढाँचा एक ही रहा। कामता प्रसाद गुरु इस बात का उल्लेख करते हैं, "हिन्दी और उर्दू मूल में एक ही भाषा है।"[1]उर्दू साहित्य के इतिहास में भी इस बात का उल्लेख मिलता है कि,"उर्दू भाषा उस हिन्दी भाषा की एक शाखा है जो सदियों तक दिल्ली और मेरठ के आसपास बोली जाती रही और जिसका सीधा संबंध शौरसेनी अपभ्रंश से था। यह भाषा जिसे पश्चिमी हिन्दी कहना उचित होगा उर्दू भाषा की जननी समझी जा सकती है।"[2] हिन्दी और उर्दू को यदि दो विरोधी ध्रुवों के रूप में देखा जाए , तो यह दृष्टि न केवल ऐतिहासिक रूप से अपूर्ण है, बल्कि भारतीय भाषाई चेतना के मूल स्वरूप के भी विरुद्ध है। वस्तुतः हिन्दी और उर्दू भारतीय जीवन के दो भिन्न रंग हैं , जो परस्पर मिलकर हमारी साझा संस्कृति की एक समृद्ध, बहुरंगी और जीवंत तस्वीर निर्मित करते हैं। इन दोनों भाषाओं का संबंध संघर्ष या प्रतिस्पर्धा का नहीं, बल्कि सहअस्तित्व और पूरकता का है। भारतीय समाज की जटिलताओं, भावनाओं और सांस्कृतिक अनुभवों को अभिव्यक्त करने में इन दोनों ने समान रूप से योगदान दिया है। भाषावैज्ञानिक दृष्टि से उर्दू और हिन्दी की उत्पत्ति एक ही भाषिक स्रोत से हुई है। दोनों का आधार प्राकृत और अपभ्रंश परंपरा में निहित है, और दोनों की व्याकरणिक संरचना, वाक्य-विन्यास तथा ध्वन्यात्मक व्यवस्था मूलतः एक ही है। इस अर्थ में हिन्दी और उर्दू को दो अलग भाषाएँ कहना भ्रामक है ; वे वस्तुतः एक ही भाषा की दो ऐतिहासिक और सांस्कृतिक धाराएँ हैं। यदि इनके बीच कोई अंतर दिखाई देता है, तो वह उनकी उत्पत्ति में नहीं, बल्कि उनके विकास और उन्नति के ढंग में है। उर्दू भाषा का विकास मुख्यतः मुस्लिम समाज की संरक्षता और संरक्षण में हुआ । दरबारी संस्कृति, फ़ारसी साहित्य और इस्लामी बौद्धिक परंपरा के प्रभाव के कारण उर्दू में फ़ारसी और अरबी शब्दों की प्रचुरता स्वाभाविक रूप से बढ़ी। इसके विपरीत हिन्दी ने अपने विकास क्रम में संस्कृत की ओर अधिक झुकाव दिखाया और तत्सम शब्दावली को अपनाया। किन्तु यह अंतर शब्द-संपदा का है, भाषा की आत्मा का नहीं। दोनों ही भाषाएँ एक ही भाषिक परिवेश में विकसित हुई हैं और भारतीय लोकजीवन की संवेदना को समान रूप से अभिव्यक्त करती हैं। रामधारी सिंह दिनकर अपनी पुस्तक में इस बात का उल्लेख करते हैं कि, "यह मत केवल हिन्दी के ही विद्वानों का नहीं है, बल्कि, उर्दू के भी निष्पक्ष विद्वान यह मानते हैं कि उर्दू का जन्म हिन्दी से हुआ है एवं हिन्दी की सहायता के बिना उर्दू जी ही नहीं सकती। वज-ए-इस्तलाहात(परिभाषा निर्माण) नाम की अपनी पुस्तक में उस्मानिया कॉलेज के भूतपूर्व प्रोफेसर मौलवी वहीदुद्धीन साहब सलीम पानीपत मरहूम ने लिखा है कि उर्दू जिस जमीन पर खड़ी है वह जमीन हिन्दी की है। इसी जमीन पर फारसी और अरबी के पौधे लगाए गए हैं। इसी तख्ते पर गैर-जबानों ने(दूसरी भाषाओं ने)आकर गुलकारी की है। अगर यह जमीन यानी हिन्दी निकाल दी जाए तो फिर उर्दू जबा न का नामोनिशान भी बाकी नहीं रहेगा। हिन्दी को हम अपनी जबान के लिए उम्मुल्लिसान(भाषा की जननी) और हयूलाये-अव्वल (मूलत्त्व) कह सकते हैं। इसके बगैर हमारी जबान की कोई हस्ती नहीं है। इसकी मदद के बगैर हम एक जुमला(वाक्य) भी नहीं बोल सकते। जो लोग हिन्दी से मुहब्बत नहीं रखते, वह उर्दू जबान के हामी नहीं हैं, फारसी,अरबी या किसी दूसरी जबान के हामी हों तो हों।"[3]भारतीय भाषाई परंपरा में यह तथ्य विशेष रूप से उल्लेखनीय है कि इस भाषा के अनेक नाम प्रचलित रहे हैं—हिन्दवी, हिन्दुस्तानी,

खड़ीबोली आदि—परंतु इनमें 'हिन्दी' नाम सबसे अधिक प्राचीन और ऐतिहासिक रूप से महत्त्वपूर्ण है। आश्चर्यजनक किंतु सत्य यह है कि 'हिन्दी' नाम की उत्पत्ति हिन्दू विद्वानों या लेखकों द्वारा नहीं की गई, बल्कि इसका श्रेय मुस्लिम कवियों और लेखकों को दिया जाना चाहिए। मध्यकालीन मुस्लिम साहित्यकारों ने 'हिन्दी' शब्द का प्रयोग भारत की लोकभाषा के अर्थ में किया, जिसमें धर्म या संप्रदाय का कोई संकीर्ण भाव निहित नहीं था। उस समय 'हिन्दी' का अर्थ था—हिन्द की भाषा, अर्थात् भारत की जनभाषा। कामताप्रसाद गुरु लिखते हैं,"हमारी भाषा का सबसे पुराना नाम केवल भाषा है। महामहोपाध्याय पं. सुधाकर द्विवेदी के अनुसार यह नाम भास्वती की टीका में आया है, जिसका समय सं.1485 है। तुलसीदास ने रामायण में भाषा शब्द लिखा है, पर अपने फारसी पंचनामे में हिंदवी शब्द का प्रयोग किया है। पादरी आदम साहब की लिखी और सन् 1837 में दूसरी बार छपी उपदेश कथा में इस भाषा का नाम हिन्दवी लिखा है। इन उदाहरणों से जान पड़ता है कि हमारी भाषा का हिन्दी नाम आधुनिक है इसके पहले हिन्दू लोग इसे भाषा और मुसलमान लोग हिन्दुई और हिन्दवी कहते थे।"[4]यह ऐतिहासिक तथ्य इस बात को रेखांकित करता है कि हिन्दी और उर्दू का संबंध मूलतः साझेदारी और संवाद का रहा है, न कि विरोध और विभाजन का। भाषा के नाम, रूप और शब्दावली समय के साथ बदलती रही, किन्तु उसकी सांस्कृतिक आत्मा एक ही रही। इसलिए हिन्दी–उर्दू को अलग–अलग खाँचों में बाँटकर देखने के बजाय, उन्हें भारतीय संस्कृति की साझा विरासत के रूप में समझना अधिक सार्थक और न्यायसंगत है। आधुनिक उर्दू के इतिहास लेखकों ने इस तथ्य को स्वीकार करते हुए स्पष्ट रूप से प्रमाणित किया है कि,"उर्दू का सबसे प्राचीन नाम 'हिन्दी' ही था। 'उर्दू-ए-कदीम', 'तारीख़-ए-नस्र-उर्दू' और 'पंजाब में उर्दू' जैसे प्रतिष्ठित ग्रंथों में इस विषय पर विस्तृत शोध किया गया है । अमीर खुसरो की प्रसिद्ध कृति 'ख़ालिकबारी' – जो उर्दू की सबसे प्राचीन कोश मानी जाती है — में 'हिन्दी' और 'हिन्दवी' शब्दों का अनेक बार प्रयोग हुआ है। इसमें 'उर्दू', 'रेख्ता' या किसी अन्य नाम का कहीं भी उल्लेख नहीं मिलता। 'ख़ालिकबारी' में 'हिन्दी' शब्द बारह बार और 'हिन्दवी' शब्द पचपन बार प्रयुक्त हुआ है।'हिन्दी' का अर्थ है — हिन्द की भाषा, जबकि 'हिन्दवी' का अभिप्राय है — हिन्दुस्तानियों या हिन्दुओं की भाषा दोनों शब्दों में 'ई' प्रत्यय है, जो संबंध या उत्पत्ति को सूचित करता है। इस दृष्टि से 'हिन्दी' और 'हिन्दवी' का प्रयोग भौगोलिक और सांस्कृतिक पहचान से जुड़ा हुआ है, न कि किसी धार्मिक सीमांकन से। अतः अमीर खुसरो द्वारा प्रयुक्त 'हिन्दवी' शब्द को किसी जाति-विशेष की भाषा के रूप में समझना भ्रांतिपूर्ण होगा।"[5] दिनकर लिखते हैं,"उर्दू और हिन्दी के बीच जो भेद बढ़ा, उसकी जिम्मेवारी उर्दू-कवियों के माथे मढ़ी जानी चाहिए, यह मत डॉक्टर अब्दुल हक का भी था। उन्होंने लिखा है, बाद के उर्दू शोअरा(शायरों) पर फारसी का रंग ऐसा गालिब आया कि यह खुसूसियत(विशेषता) उर्दू शायरी से बिलकुल उठ गई और रफ्ता-रफ्ता बहुत-से-हिन्दी अलफाज(शब्द) जबान से खारिज हो गए और उस्तादी अलफाज के मतरुक(परित्यक्त) करने में रह गई।"[6]

मध्यकालीन भारत की भाषाई संरचना को समझने के लिए खड़ीबोली और उससे विकसित 'हिन्दवी' अथवा 'हिन्दुस्तानी' भाषा की भूमिका अत्यंत महत्वपूर्ण है। यह वह काल था जब भाषा न किसी धर्म की जागीर थी और न किसी वर्ग विशेष की पहचान का उपकरण; बल्कि वह जनसामान्य के जीवन से उपजी, उसी के अनुभवों में रची-बसी संवाद की भाषा थी। शासन, समाज और संस्कृति—तीनों स्तरों पर यह भाषा एक ऐसे सेतु के रूप में कार्य कर रही थी, जो विभिन्न समुदायों, विचारधाराओं और जीवन-पद्धतियों को आपस में जोड़ती थी। अमीर खुसरो की रचनाओं में जहाँ फ़ारसी और स्थानीय बोलियों का स्वाभाविक संगम दिखाई देता है, वहीं कबीर की वाणी में लोकजीवन का यथार्थ, आध्यात्मिक प्रश्न और मानवीय विद्रोह एक साथ मुखर होता है। रहीम के दोहों में जीवन-दर्शन और करुणा की सार्वभौमिक अनुभूति व्यक्त होती है, तो जायसी की 'पद्मावत' प्रेम, त्याग और आध्यात्मिक ऊँचाई की कथा को जनभाषा में प्रस्तुत करती है। इन सभी रचनाकारों की भाषा न तो धार्मिक सीमाओं में बँधी हुई थी और न ही

किसी शास्त्रीय शुद्धता के आग्रह से ग्रस्त; वह सहज, संप्रेषणीय और मानवीय थी। इसी कारण वह समाज के व्यापक वर्गों तक पहुँच सकी और उनकी संवेदना की अभिव्यक्ति बन सकी। इस साझा भाषा का मूल उद्देश्य धार्मिक पहचान का निर्माण या सांस्कृतिक अलगाव नहीं था, बल्कि सामाजिक समन्वय और भावनात्मक संवाद था। सूफ़ी संतों की प्रेमप्रधान साधना और भक्ति कवियों की लोकधर्मी चेतना इसी भाषा के माध्यम से जनता के हृदय तक पहुँची। भाषा यहाँ वैचारिक टकराव का माध्यम नहीं, बल्कि मानवीय मूल्यों—प्रेम, सहिष्णुता और करुणा—की संवाहिका थी। यही कारण है कि यह भाषा न केवल आध्यात्मिक संवाद का साधन बनी, बल्कि सामाजिक समानता और सांस्कृतिक साझेदारी की भूमि भी तैयार करती गई। मध्यकालीन समाज में यह भाषा दरबार और बाज़ार दोनों में समान रूप से जीवित थी। शासकों के दरबार में जहाँ यह प्रशासन और साहित्य का माध्यम बनी, वहीं बाज़ार और लोकजीवन में यह रोज़मर्रा के व्यवहार, व्यापार और संबंधों की भाषा रही। साधु और सूफ़ी, व्यापारी और किसान—सभी इसी साझा भाषिक संसार में संवाद करते थे। इस व्यापक प्रयोग ने भाषा को जनसरोकारों से जोड़े रखा और उसे सामाजिक जीवन की धड़कन बना दिया। हिन्दी और उर्दू को यदि उनके आरंभिक रूपों में देखा जाए , तो वे किसी भी प्रकार से दो परस्पर-विरोधी या असंबद्ध परम्पराएँ नहीं थीं। दोनों का जन्म एक ही जातीय, सामाजिक और सांस्कृतिक भूमि पर हुआ—उस भूमि पर जहाँ जीवन की गति साझी थी, संवेदनाएँ साझा थीं और अभिव्यक्ति की भाषा भी मूलतः एक ही थी। इन भाषाओं का स्वरूप प्रारम्भ में धार्मिक पहचान से संचालित नहीं था, बल्कि लोक-जीवन की आवश्यकताओं, अनुभवों और भावनाओं से आकार ग्रहण करता था। खेत-खलिहानों, बाज़ारों, गलियों और चौपालों में बोली जाने वाली भाषा न तो 'हिन्दी' थी, न 'उर्दू'—वह केवल जनभाषा थी, जिसमें जीवन अपने सहज रूप में बोलता था। लोक-स्तर पर आज भी यह एकता स्पष्ट रूप से देखी जा सकती है। आम जन की जुबान पर शब्द, संज्ञाएँ, क्रियाएँ और भाव एक-दूसरे में ऐसे घुले-मिले हैं कि किसी कठोर विभाजन की रेखा खींच पाना असंभव हो जाता है। यह विभाजन मुख्यतः शिष्ट, शिक्षित और अभिजन समाज में उभरता है। यहाँ लिपि, शब्द-चयन और सांस्कृतिक आग्रह भाषा को दो खाँचों में बाँट देते हैं, जबकि उसका जीवंत स्रोत अब भी साझा ही बना रहता है। इतिहास साक्षी है कि संस्कृति की स्वाभाविक और मिश्रित धाराएँ अपने आप में विभाजन नहीं रचतीं; उन्हें अलग करने का कार्य प्रायः राजनीतिक शक्तियाँ करती हैं। सत्ता और राजनीति अक्सर भाषा को पहचान की राजनीति का औज़ार बना लेती हैं और जो सहज सह-अस्तित्व समाज में स्वाभाविक रूप से विद्यमान होता है, उसे कृत्रिम भेदों के सहारे तोड़ने का प्रयास करती हैं। हिन्दी-उर्दू का विवाद भी इसी प्रक्रिया का परिणाम है, जिसमें एक साझा सांस्कृतिक विरासत को धार्मिक और राजनीतिक चश्मे से देखने की प्रवृत्ति हावी हो गई। हिन्दी नवजागरण और संस्कृति में शंभुनाथ इस बात का उल्लेख करते हैं कि,"हिन्दी और उर्दू दो एकदम अलग-अलग परंपराएँ नहीं थी, क्योंकि इनका अभ्युदय एक ही जातीय वातावरण में हुआ था। इनका स्वरूप धार्मिक नहीं था। लोक-जीवन में ये जुबान पर आज भी एक हैं, शिष्ट समुदायों में कलम तक आकर भले जो हो जाया करें। इतिहास में कई बार संस्कृति की सहज मिश्रित धाराओं को राजनीतिक चालें पुनः अलग-अलग कर देती हैं।"[7]

उन्नीसवीं शताब्दी के आरंभ तक हिन्दी और उर्दू का विकास मुख्यतः लोक-जीवन, साहित्यिक परंपरा और सांस्कृतिक व्यवहार के स्तर पर स्वाभाविक रूप से हो रहा था। भाषा न तो किसी सरकारी नीति की उपज थी और न ही किसी औपचारिक प्रशासनिक योजना की देन। किंतु इस सहज भाषिक प्रवाह पर सरकारी सनद की बाकायदा छाप उस समय लगी, जब सन् 1803 ई. में कलकत्ते के फोर्ट विलियम कॉलेज की स्थापना की गई। यह घटना केवल एक शैक्षणिक पहल नहीं थी, बल्कि भारतीय भाषाओं के इतिहास में एक निर्णायक मोड़ सिद्ध हुई। फोर्ट विलियम कॉलेज की स्थापना ईस्ट इंडिया कंपनी ने मुख्यतः अपने यूरोपियन कर्मचारियों को देशी भाषाओं का प्रशिक्षण देने के उद्देश्य से की थी, ताकि वे प्रशासनिक कार्यों को अधिक सुचारु रूप से चला

सकें। इस महत्त्वपूर्ण दायित्व की देखरेख डॉ. जॉन गिलक्राइस्ट को सौंपी गई, जो भारतीय भाषाओं के अध्ययन में गहरी रुचि रखते थे। गिलक्राइस्ट का यह विश्वास था कि शासन की सफलता के लिए शासकों का शासित समाज की भाषा और मानसिकता से परिचित होना आवश्यक है। इसी उद्देश्य के तहत कॉलेज में एक विशेष भाषा-महकमे की स्थापना की गई, जहाँ हिन्दू और मुसलमान विद्वानों को नियुक्त कर उर्दू और हिन्दी में पुस्तकों का सृजन कराया गया। पहली बार भारतीय भाषाओं में गद्य लेखन को संस्थागत संरक्षण मिला। व्याकरण, शब्दकोश, अनुवाद, कथा-साहित्य और पाठ्य-पुस्तकों का निर्माण योजनाबद्ध ढंग से होने लगा। इस प्रक्रिया ने भाषा को लोक से उठाकर औपचारिक और अकादमिक दायरे में स्थापित किया। किन्तु यही वह बिंदु था, जहाँ से भाषा की स्वाभाविक एकता पर धीरे-धीरे विभाजन की रेखाएँ उभरने लगीं। प्रशासनिक सुविधा और विद्वानों की पृष्ठभूमि के आधार पर उर्दू को फ़ारसी-अरबी लिपि और शब्दावली के साथ तथा हिन्दी को नागरी लिपि और संस्कृतनिष्ठ शब्दावली के साथ प्रस्तुत किया जाने लगा। जो भाषा पहले लोक-जीवन में एक साझा रूप में विद्यमान थी, वह अब सरकारी संरक्षण में दो पृथक रूपों में ढलने लगी। फोर्ट विलियम कॉलेज केवल भाषा-शिक्षण का केंद्र नहीं रहा, बल्कि उसने अनजाने में ही हिन्दी-उर्दू को संस्थागत पहचान प्रदान कर दी। यहाँ भाषा पहली बार सत्ता, प्रशासन और नीति के साथ जुड़ी। परिणामस्वरूप, भाषा का प्रश्न धीरे-धीरे सांस्कृतिक से राजनीतिक और फिर धार्मिक पहचान से जुड़ने लगा। आगे चलकर यही प्रवृत्ति हिन्दी-उर्दू विवाद का आधार बनी। हिन्दी को 'हिन्दू समाज' की और उर्दू को 'मुस्लिम समाज' की भाषा के रूप में प्रचारित किया जाने लगा। वीर भारत तलवार लिखते हैं,"उर्दू को इस्लाम से जोड़ने की प्रक्रिया भी दिलचस्प थी। 18वीं सदी के उत्तरार्ध से पहले उर्दू इस्लाम का प्रतीक कभी नहीं रही। उलटे वह एक गैरइस्लामिक जुबान समझी जाती थी। ज्ञान और कविता की भाषा फारसी थी और धर्म की भाषा अरबी, जिसे समझनेवाले आम मुसलमान तो क्या, पढ़े-लिखे मुसलमान भी बहुत कम ही थे।"[8] भाषा अब संप्रेषण का माध्यम न रहकर पहचान का प्रतीक बन गई। नागरी और फ़ारसी लिपि का प्रश्न, शब्द–चयन का विवाद और शिक्षा तथा न्यायालयों में भाषा की मान्यता- ये सभी मुद्दे राजनीतिक संघर्ष के हथियार बन गए। परिणामस्वरूप भाषाई मतभेद सामाजिक दूरी और सांप्रदायिक तनाव में परिवर्तित हो गए। अपनी पुस्तक में शंभुनाथ इस बात का उल्लेख करते हैं कि,"उपनिवेशवाद एक तरफ हिन्दी को उर्दू हिन्दुस्तानी से लड़ाकर, दूसरी तरफ उसे भारत के दूसरे क्षेत्रों मराठी-बंग्ला-गुजराती-पंजाबी आदि की शब्द-परंपरा और अर्थ-परंपरा से काट कर, तीसरी तरफ उसे हिन्दी समूह की विभिन्न भाषाओं-उपभाषाओं, ब्रज, अवधि, मैथिली, भोजपुरी आदि की विरासत से तोड़कर किनारे कर देना चाहता था।"[9]

हिन्दी और उर्दू की चर्चा होते ही सबसे पहले जिस बिंदु पर मतभेद उभरकर सामने आता है , वह है उनकी लिपि। हिन्दी देवनागरी लिपि में लिखी जाती है, जो बाएँ से दाएँ प्रवाहित होती है, जबकि उर्दू की अभिव्यक्ति फ़ारसी लिपि के माध्यम से होती है, जिसकी दिशा दाएँ से बाएँ है। सामान्यतः यह धारणा प्रचलित रही है कि हिन्दी और उर्दू को यदि कोई तत्व अलग करता है तो वह उनकी लिपि है; अन्यथा भाषिक संरचना, व्याकरणिक ढाँचा और बोलचाल के स्तर पर दोनों के बीच इतनी गहरी समानता है कि भारतीय भाषाओं में ऐसी निकटता विरल ही देखने को मिलती है। किसी भाषा की स्वतंत्र पहचान प्रायः उसके व्याकरण से निर्धारित होती है। व्याकरण ही वह आधार है, जो यह तय करता है कि दो भाषाएँ अलग हैं या एक ही भाषिक परिवार की अभिव्यक्तियाँ। किंतु हिन्दी और उर्दू के संदर्भ में यह आधार स्वयं विवाद को निष्प्रभावी कर देता है , क्योंकि दोनों का व्याकरण लगभग एक-सा है। सर्वनामों का प्रयोग हो या क्रियाओं के रूप, दोनों भाषाओं में संरचनात्मक एकरूपता स्पष्ट दिखाई देती है। सामान्यतः दो भिन्न भाषाओं में इस स्तर की समानता नहीं मिलती। उदाहरण के लिए, यदि हिन्दी की तुलना बांग्ला से की जाए तो दोनों की व्याकरणिक व्यवस्था, वाक्य-विन्यास और क्रिया-रूपों में स्पष्ट भिन्नता दृष्टिगोचर होती है। इसके विपरीत, हिन्दी और उर्दू का अंतर व्याकरणिक

न होकर मुख्यतः लिपिगत है। यही लिपिगत भेद हिन्दी-उर्दू विवाद के प्रमुख कारणों में से एक बन गया। औपनिवेशिक काल में , विशेषतः प्रशासनिक ढाँचे के भीतर, फ़ारसी लिपि का व्यापक प्रयोग होता था। सरकारी दफ्तरों और महकमों में कामकाज उसी लिपि में संपन्न किया जाता था। इन संस्थानों से जुड़े लोगों में हिन्दू और मुस्लिम-दोनों समुदायों की उल्लेखनीय भागीदारी थी। आरंभिक स्तर पर भाषा एक साझा संप्रेषण माध्यम थी, किंतु जैसे-जैसे भाषिक चेतना राजनीतिक और सांस्कृतिक पहचान से जुड़ने लगी, लिपि का प्रश्न केंद्रीय मुद्दा बन गया। जब हिन्दी-उर्दू विवाद ने आकार लेना शुरु किया, तब यह केवल भाषा का प्रश्न नहीं रह गया, बल्कि पहचान, अधिकार और सांस्कृतिक वर्चस्व की बहस में परिवर्तित हो गया। देवनागरी और फ़ारसी लिपियों का भेद भाषाओं के भेद के रूप में प्रस्तुत किया जाने लगा, जबकि वस्तुतः यह अंतर भाषा की आत्मा से अधिक उसके बाह्य रूप से संबंधित था। हिन्दी-उर्दू को दो भिन्न भागों में विभक्त करने का प्रधान कारण लिपि का भेद है । हिन्दी-उर्दू हिन्दुस्तानी में इस बात का उल्लेख मिलता है कि,"हिन्दी-उर्दू के विरोध की बुनियाद लिपि -भेद पर ही कायम हुई, विरोध का महल इसी पर खड़ा है। दोनों भाषाओं में यही भेद एकता नहीं होने देता। यह लिपि-भेद यदि दूर हो जाय तो हिन्दी-उर्दू विवाध के बखेड़े कभी न हों, सब विरोध शांत हो जाय।"[10]लिपि को भाषा की पहचान का निर्णायक मान लेना एक ऐसी प्रवृत्ति थी, जिसने हिन्दी और उर्दू के बीच कृत्रिम दूरी पैदा की और एक साझा भाषिक परंपरा को दो विरोधी ध्रुवों में बाँटने का कार्य किया।

उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध तक आते-आते हिन्दी–उर्दू विवाद केवल भाषा तक सीमित नहीं रह गया था , बल्कि उसके साथ फ़ारसी और नागरी लिपियों का द्वंद भी गहराता चला गया। यह द्वंद मूलतः भाषिक कम और सामाजिक–सांस्कृतिक अधिक था, जिसमें भाषा के माध्यम से समुदायों की पहचान, अधिकार और भविष्य की दिशा तय करने की कोशिश की जा रही थी। उर्दू–फ़ारसी की हिमायत में मुसलमान समाज के विद्वान सक्रिय रूप से आगे आए और इसे अपनी ऐतिहासिक, सांस्कृतिक तथा बौद्धिक परंपरा से जोड़कर प्रस्तुत किया। रॉबिंसन की पुस्तक सेपरेटिज्म एमंग इंडियन मुस्लिम में इस बात का उल्लेख मिलता है कि ,"हिन्दू और मुस्लिम भद्रवर्ग की एकता में दरार सैयद अहमद के उस प्रस्ताव से पड़ी जिसमें वह पश्चिमोत्तर प्रांत के लिए देशी भाषा में एक अलग विश्वविद्यालय खोलने की मांग कर रहे हैं। और इससे यह बहस उठ गई की प्रांत की देशी भाषा क्या है- हिन्दी या उर्दू?"[11]

सैयद अहमद खाँ का मानना था कि उर्दू न केवल भारतीय मुसलमानों की सांस्कृतिक पहचान की वाहक है , बल्कि आधुनिक शिक्षा और बौद्धिक उन्नति का भी सक्षम माध्यम बन सकती है। इसी उद्देश्य से उन्होंने उर्दू के विकास , प्रचार और मानकीकरण के लिए संगठित प्रयास किए। इन्हीं प्रयासों का परिणाम 'अंजुमन-ए-तरक़्क़ी-ए-उर्दू' जैसे संगठनों की स्थापना के रूप में सामने आया। इस संस्था का लक्ष्य उर्दू भाषा को शिक्षा , साहित्य और प्रशासन के क्षेत्र में सुदृढ़ स्थान दिलाना था। उर्दू -फ़ारसी लिपि के पक्षधर यह तर्क देते थे कि यह लिपि सदियों से भारतीय प्रशासन, साहित्य और ज्ञान-परंपरा का अंग रही है, अतः इसे हटाना सांस्कृतिक विरासत से विच्छेद के समान होगा। परंतु इसी समय दूसरी ओर हिन्दू समाज के भाषा-हिमायती भी संगठित होने लगे। उन्होंने फ़ारसी लिपि के स्थान पर नागरी लिपि को अपनाने की माँग को जोर-शोर से उठाया। उनके लिए यह केवल लिपि का प्रश्न नहीं था, बल्कि सांस्कृतिक आत्मसम्मान और बहुसंख्यक समाज की भाषिक सुविधा से जुड़ा मुद्दा था। नागरी समर्थकों का तर्क था कि देवनागरी लिपि अधिक वैज्ञानिक, सरल और व्यापक जनसमुदाय के लिए सहज है, इसलिए प्रशासन और शिक्षा में उसी का प्रयोग होना चाहिए। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल अपने इतिहास ग्रंथ में लिखा है कि, "इश्तहारनामे में स्पष्ट कहा गया है कि बोली हिन्दी ही हो, अक्षर नागरी के स्थान पर फारसी भी हो सकते हैं। खेद की बात है कि उचित व्यवस्था चलने न पाई। मुसलमानों की ओर से इस बात घोर प्रयत्न हुआ कि दफ्तरों में हिन्दी न रहने पाये, उर्दू चलाई जाये ।"[12]उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध में भाषा का प्रश्न लिपि

के सहारे दो स्पष्ट ध्रुवों में बँटता चला गया। उर्दू-फ़ारसी लिपि मुसलमान समाज की पहचान और परंपरा का प्रतीक बनती गई, जबकि हिन्दी- नागरी लिपि हिन्दू समाज की सांस्कृतिक चेतना और नवजागरण की आकांक्षाओं से जुड़ गई। यह द्वंद धीरे-धीरे भाषिक मतभेद से आगे बढ़कर सामाजिक और राजनीतिक टकराव का रूप लेने लगा, जिसने हिन्दी-उर्दू विवाद को और अधिक जटिल तथा तीव्र बना दिया। वास्तविकता यह है कि हिन्दी और उर्दू के बीच जिस टकराव को हम आज एक ऐतिहासिक विवाद के रूप में देखते हैं, उसकी जड़ें अंग्रेज़ों के भारत आगमन के साथ ही गहरी होने लगती हैं। उससे पूर्व हिन्दी और उर्दू अपने स्वाभाविक विकासक्रम में एक-दूसरे के साथ सहअस्तित्व में थीं- लोकजीवन, बाज़ार, प्रशासन और साहित्य में दोनों का प्रयोग बिना किसी तीखे विरोध के होता रहा। किंतु ब्रिटिश शासन ने भाषा को महज़ संप्रेषण का साधन न मानकर उसे राजनीतिक रणनीति का औज़ार बना लिया। अंग्रेज़ों की औपनिवेशिक नीति का मूल मंत्र था- 'फूट डालो और शासन करो।' इसी नीति के तहत उन्होंने भारतीय समाज की आंतरिक विविधताओं को उभारकर उन्हें परस्पर विरोध में खड़ा करने का प्रयास किया। हिन्दी–उर्दू का प्रश्न भी इसी कूटनीतिक चाल का शिकार बना। भाषा के आधार पर हिन्दू और मुस्लिम समुदायों को अलग-अलग खाँचों में बाँटने की योजना धीरे-धीरे एक सुविचारित रणनीति के रूप में सामने आई। इस प्रक्रिया में फोर्ट विलियम कॉलेज की भूमिका केंद्रीय मानी जाती है। यह समझना आवश्यक है कि हिन्दी–उर्दू विवाद मात्र भाषा या लिपि का प्रश्न नहीं था। यह दरअसल एक विशेष प्रकार की मानसिकता और सोच का संघर्ष था—एक ऐसी सोच, जो विविधता को एकता में देखने के बजाय उसे विभाजन का माध्यम बनाती है। भाषा के नाम पर खड़ी की गई यह दीवारें औपनिवेशिक सत्ता के लिए सुविधाजनक थीं, क्योंकि विभाजित समाज पर शासन करना कहीं अधिक सरल होता है।

हिन्दी–उर्दू विवाद के विस्तार में जहाँ एक ओर ब्रिटिश औपनिवेशिक कूटनीति की निर्णायक भूमिका रही , वहीं दूसरी ओर राजनीतिक स्वार्थों और सांप्रदायिक भावनाओं ने इस विवाद को और अधिक तीव्र, जटिल तथा विस्फोटक बना दिया। यह कहना अतिशयोक्ति नहीं होगी कि भाषा का यह प्रश्न जितना प्रशासनिक नीतियों से संचालित था, उससे कहीं अधिक उसे वैचारिक आग्रहों, सामुदायिक अस्मिताओं और सत्ता-संतुलन की राजनीति ने हवा दी। परिणामस्वरूप, एक साझा भाषिक परंपरा धीरे-धीरे दो विरोधी खेमों में बँटती चली गई। इस संदर्भ में गिलक्राइस्ट जैसे औपनिवेशिक भाषाविदों की भूमिका विशेष रूप से उल्लेखनीय है। गिलक्राइस्ट द्वारा हिन्दी को 'गँवारू' और 'हिंदुओं की भाषा' कहकर संबोधित करना केवल एक भाषिक टिप्पणी नहीं थी , बल्कि इसके पीछे एक गहरी औपनिवेशिक मानसिकता काम कर रही थी। इस प्रकार की टिप्पणियों के माध्यम से भारतीय भाषाओं के भीतर कृत्रिम श्रेणियाँ निर्मित की गईं—कुछ को 'सभ्य', 'उच्च' और 'प्रशासन योग्य' ठहराया गया, तो कुछ को 'अल्पविकसित' और 'अप्रासंगिक'। इस वर्गीकरण ने हिन्दी और उर्दू के बीच पहले से मौजूद स्वाभाविक निकटता को तोड़ने का कार्य किया। वस्तुतः हिन्दी और उर्दू के बीच बढ़ते फासले का मूल कारण आम जनता का स्वाभाविक सांप्रदायिक विभाजन नहीं था। जनसाधारण के स्तर पर भाषा संवाद का साधन थी, न कि संघर्ष का। बाज़ार, गलियों, मेलों और दैनिक जीवन में लोग बिना किसी भेदभाव के एक ही भाषिक रूप का प्रयोग करते थे। किंतु औपनिवेशिक सत्ता ने भाषा को सत्ता -राजनीति का उपकरण बनाकर इसे सामुदायिक पहचान से जोड़ दिया। यही वह बिंदु था जहाँ उपनिवेशवाद का खेल पूरी चतुराई से सामने आता है । फ्रांचेस्का ऑर्सीनी अपनी पुस्तक में लिखती हैं,"19वीं सदी के उत्तरार्द्ध में जॉन गिलक्रिस्ट और दूसरे प्राच्यविदों ने यह घोषित कर दिया कि दरअसल ये दो भिन्न भाषाएं थी, एक हिन्दुओं के लिए और एक मुसलमानों के लिए और इस धारणा को फैलाने के लिए हिन्दी और उर्दू के नाम से प्रचारित किये।"[13]ब्रिटिश शासन ने यह भली-भाँति समझ लिया था कि यदि भारतीय समाज को स्थायी रूप से नियंत्रित रखना है, तो उसे आंतरिक रूप से विभाजित करना आवश्यक है। भाषा इस विभाजन का सबसे सहज और प्रभावी माध्यम बनी। हिन्दी को हिन्दू पहचान से और उर्दू को मुस्लिम पहचान से जोड़कर प्रस्तुत किया गया। इसके बाद राजनीतिक और सांप्रदायिक शक्तियों

ने इस विभाजन को और गहरा करने में कोई कसर नहीं छोड़ी। भाषा के नाम पर भावनाओं को भड़काया गया, इतिहास और परंपरा की मनचाही व्याख्याएँ गढ़ी गईं और भाषिक असहमति को धार्मिक अस्मिता के संघर्ष में बदल दिया गया। हिन्दी–उर्दू विवाद केवल भाषाओं का संघर्ष नहीं रह गया, बल्कि वह एक व्यापक वैचारिक और सांप्रदायिक टकराव का प्रतीक बन गया। यह संघर्ष उपनिवेशवादी सत्ता के लिए अत्यंत लाभकारी सिद्ध हुआ, क्योंकि विभाजित समाज में राष्ट्रीय एकता और साझा सांस्कृतिक चेतना का विकास बाधित होता है।

उन्नीसवीं सदी का उत्तरार्ध भारतीय भाषाई इतिहास का वह निर्णायक मोड़ है, जहाँ भाषा केवल संप्रेषण का माध्यम नहीं रही, बल्कि धार्मिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक पहचान का औज़ार बन गई। इसी काल में हिन्दी को क्रमशः 'हिन्दू' और उर्दू को 'मुसलमान' के खाँचे में बाँधने की जो प्रक्रिया शुरू हुई, उसका प्रभाव आज अपने चरम रूप में हमारे सामने उपस्थित है। हिन्दू-उर्दू की रस्साकशी नामक अपने आलेख में अमीष वर्मा इस बात का उल्लेख करते हैं कि, "इस काल खंड में हिन्दी के पूरे सोलह संस्कार तथा उर्दू की पूरी मुसलमानी हुई। जिसका आरंभ फोर्ट विलियम कॉलेज और ईसाई मिशनरियों ने अपने स्थापना के समय से ही आरंभ कर दिया था।"[14]यह विभाजन सहज भाषिक विकास का परिणाम नहीं था, बल्कि योजनाबद्ध सामाजिक-राजनीतिक हस्तक्षेपों और वैचारिक आग्रहों की देन था। हिन्दी नवजागरण को सामान्यतः आधुनिक चेतना, राष्ट्रीय जागरण और औपनिवेशिक दासता के प्रतिरोध से जोड़कर देखा जाता है। इसके नायक—भारतेन्दु हरिश्चंद्र, महावीर प्रसाद द्विवेदी, प्रतापनारायण मिश्र आदि—अपने समय की चुनौतियों से जूझते हुए भाषा को समाज-सुधार और राष्ट्रनिर्माण का माध्यम बनाना चाहते थे। हिन्दी के ' सोलह संस्कार' से तात्पर्य उस प्रक्रिया से है जिसमें उसे संस्कृतनिष्ठ, शुद्ध, शास्त्रीय और धार्मिक रूप से 'हिन्दू' परंपरा से जोड़ा गया। शब्दावली, लिपि, व्याकरण और साहित्यिक आदर्श—सभी स्तरों पर ऐसे चयन किए गए, जिनसे हिन्दी का चेहरा एक विशेष सांस्कृतिक पहचान से जुड़ता चला गया। इसके समानांतर उर्दू को फ़ारसी-अरबी शब्दावली, नस्तालिक लिपि और इस्लामी सांस्कृतिक बोध के साथ अनिवार्य रूप से जोड़ दिया गया। जो भाषा सदियों तक साझा लोक-जीवन, गंगा-जमुनी तहज़ीब और आम जनता की संवाद-भाषा रही थी, वह दो अलग-अलग धार्मिक खेमों में बाँट दी गई।

हिन्दी और उर्दू का आपसी मेल जितना स्वाभाविक , ऐतिहासिक और जीवन-स्पर्शी रहा है, उतना ही उसे कृत्रिम दीवारों के पीछे धकेल दिया गया है। ऐसे समय में इन दोनों भाषाओं का और अधिक पास आकर घुलना-मिलना हमारी साझा संस्कृति के लिए सबसे बड़ा और सबसे सार्थक उपहार हो सकता है। मीर और ग़ालिब जैसे शायर इस सच्चाई के सबसे प्रामाणिक साक्ष्य हैं कि साहित्य और संवेदना की दुनिया में धार्मिक सीमाएँ बेमानी होती हैं। उन्होंने न हिंदुओं को अलग रखकर शायरी की , न मुसलमानों को किसी विशिष्ट दायरे में बाँधा। उनका संबोधन 'इंसान' से था—उस इंसान से जो प्रेम करता है, पीड़ा सहता है, टूटता है और फिर भी उम्मीद करता है। यही वह दृष्टि है जिसे आज के हिन्दी और उर्दू लेखन को पुनः आत्मसात करने की आवश्यकता है। समाधान की पहली शर्त यह है कि भाषा को समुदाय की संपत्ति मानने की संकीर्ण मानसिकता से बाहर आया जाए। हिन्दी को केवल बहुसंख्यक समाज की और उर्दू को अल्पसंख्यक मुस्लिम बिरादरी की भाषा मानना , दोनों भाषाओं के ऐतिहासिक स्वभाव और सांस्कृतिक विरासत के साथ अन्याय है। यहां पद्मसिंह शर्मा का वह अपील महत्त्वपूर्ण हो जाता है कि, "हिन्दी-उर्दू का भंडार दोनों जातियों के परिश्रम का फल है। अपनी-अपनी जगह भाषा की इन दोनों शाखाओं का विशेष महत्त्व है। पक्षपात और हठधर्मिता छोड़ने की आवश्यकता है। बिना एकता के भाषा और जाति का कल्याण नहीं।"[15]लेखक, कवि और बुद्धिजीवी यदि उर्दू को 'दूसरे' की भाषा मानकर उससे दूरी बनाए रखेंगे, तो यह दूरी केवल साहित्यिक नहीं, सामाजिक भी बन जाएगी। इसलिए ज़रूरी है कि

हिन्दी के लोग उर्दू को अपनी ही सांस्कृतिक थाती समझें और उर्दू की जनता को 'अलग' नहीं , बल्कि साझी जनता के रूप में देखें। दूसरा महत्वपूर्ण समाधान सांस्कृतिक पुलों के संरक्षण और पुनर्निर्माण में निहित है। जो पुल टूट चुके हैं या टूटने की कगार पर हैं — जैसे साझा मुशायरे, मिश्रित शब्दावली, द्विभाषिक रचनाएँ, और संयुक्त सांस्कृतिक मंच—उन्हें सहेजना आज की ऐतिहासिक ज़िम्मेदारी है। शिक्षा, मीडिया और साहित्यिक संस्थानों को ऐसे प्रयासों को प्रोत्साहित करना चाहिए, जहाँ हिन्दी और उर्दू एक-दूसरे के समानांतर नहीं, बल्कि साथ-साथ बहें। पाठ्यक्रमों में मीर, ग़ालिब, प्रेमचंद, फ़िराक़ और नज़ीर जैसे रचनाकारों को उनकी भाषाई दीवारों से मुक्त करके पढ़ाया जाना चाहिए। तीसरा और सबसे प्रभावशाली माध्यम है शायरी और कविता। शायरी वह सेतु है जो दिलों को जोड़ती है, जहाँ भाषा से पहले भाव बोलता है। यदि शायरी के माध्यम से दोनों आबादियाँ एक-दूसरे के दुःख-सुख, प्रेम और संघर्ष को महसूस कर सकें, तो फ़िरकापरस्ती की दीवारें अपने आप दरकने लगेंगी। साझा मंचों पर पढ़ी गई कविताएँ और ग़ज़लें केवल साहित्यिक आयोजन नहीं, बल्कि सांस्कृतिक संवाद के जीवंत रूप हो सकती हैं। यहां दिनकर द्वारा संस्कृति के चार अध्याय के प्रथम संस्करण की भूमिका में लिखा वह संदर्भ महत्त्वपूर्ण हो जाता है जहां वे कहते हैं कि,"भारत की संस्कृति, आरम्भ से ही, सामासिक रही है। उत्तर-दक्षिण, पूर्व-पश्चिम, देश में जहाँ भी जो हिन्दू बसते हैं, उनकी संस्कृति एक है एवं भारत की प्रत्येक क्षेत्रीय विशेषता हमारी इसी सामासिक संस्कृति की विशेषता है। तब हिन्दू एवं मुसलमान हैं, जो देखने में अब भी दो लगते हैं, किनतु, उनके बीच भी सांस्कृतिक एकता विद्यमान है, जो उनकी भिन्नता को कम करती है। दुर्भाग्य की बात है कि हम इस एकता को पूर्ण रूप से समझने में असमर्थ रहे हैं। यह कार्य राजनीति नहीं, शिक्षा और साहित्य के द्वारा सम्पन्न किया जाना चाहिए।"[16]

निष्कर्ष

हिन्दी–उर्दू विवाद केवल दो भाषाओं के बीच का मतभेद नहीं , बल्कि उस ऐतिहासिक भूल का प्रतीक है जिसमें भाषा को मनुष्य की संवेदना से काटकर सत्ता, अस्मिता और वर्चस्व के संघर्ष में झोंक दिया गया। जिस भाषा का जन्म लोकजीवन के सहज संवाद से हुआ था, वही भाषा जब पहचान की राजनीति का औज़ार बनी, तो उसकी स्वाभाविक विकासशीलता अवरुद्ध हो गई और उस पर कृत्रिम शुद्धता तथा सांस्कृतिक श्रेष्ठता का बोझ लाद दिया गया। परिणामस्वरूप भाषा जीवित अनुभवों की वाहक न रहकर विवाद और विभाजन की वाहिका बनती चली गई। यह विवाद भारतीय भाषाई परंपरा के उस मूल स्वभाव के सर्वथा विपरीत है, जिसमें सहअस्तित्व, ग्रहणशीलता और संवाद को केंद्रीय स्थान प्राप्त रहा है। हमारी भाषाएँ सदैव एक-दूसरे से सीखती, ग्रहण करती और समृद्ध होती रही हैं। हिन्दी–उर्दू का साझा अतीत इसी सांस्कृतिक उदारता का प्रमाण है। इसलिए इस ऐतिहासिक अनुभव से हमें यह बोध लेना चाहिए कि भाषा का स्वाभाविक उद्देश्य दीवारें खड़ी करना नहीं, बल्कि सेतु बनाना है; मनुष्यों को अलग-अलग खाँचों में बाँटना नहीं, बल्कि उनके अनुभवों और भावनाओं को जोड़ना है। जब हम हिन्दी और उर्दू को प्रतिस्पर्धी अस्मिताओं के बजाय साझा सांस्कृतिक विरासत के रूप में स्वीकार करेंगे, तभी भाषा फिर से लोकजीवन की धड़कन बन सकेगी।

संदर्भ ग्रंथ:

[1] गुरु कामताप्रसाद, हिन्दी व्याकरण, लोकभारती प्रकाशन, प्रयागराज, द्वितीय संस्करण, वर्ष- 2012, पृ.-33

[2] अनु. टंडन श्री रामचंद्र एवं श्रीवास्तव शालिग्राम, उर्दू साहित्य का इतिहास, हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद, वर्ष-1950, पृ.-01

[3] दिनकर रामधारी सिंह, संस्कृति के चार अध्याय, लोकभारती प्रकाशन, प्रयागराज, वर्ष-2023 पृ.-427

E-ISSN: 3049-0707, Volume 3 | Issue 1 | (Jan – Mar 2026)

[4] गुरु कामताप्रसाद, हिन्दी व्याकरण, लोकभारती प्रकाशन, प्रयागराज, द्वितीय संस्करण, वर्ष- 2012, पृ.-32
[5] हिन्दी, उर्दू और हिन्दुस्तानी, हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण, वर्ष-1942, पृ.-18
[6] वही, पृ.-428
[7] शंभुनाथ, हिन्दी नवजागरण और संस्कृति, आनंद प्रकाशन, कोलकाता, वर्ष-2004, पृ.-44

[8] तलवार वीर भारत, रस्साकशी, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, द्वितीय संस्करण, वर्ष-2022, पृ.-253
[9] वही, पृ.-36
[10] हिन्दी,उर्दू और हिन्दुस्तानी, हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण, वर्ष-1992, पृ.-70
[11] https://www.hindisamay.com/
[12] शुक्ल आचार्य रामचन्द्र, हिन्दी साहित्य का इतिहास, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, चौदहवां सं., वर्ष-2018, पृ.-295
[13] ऑर्सीनी फ्रांचेस्का, हिन्दी का लोकवृत्त, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, वर्ष-2011, पृ.-21
[14] https://www.hindisamay.com/
[15] हिन्दी, उर्दू और हिन्दुस्तानी, हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण, वर्ष-1942, पृ.-183
[16] दिनकर रामधारी सिंह, संस्कृति के चार अध्याय, लोकभारती प्रकाशन, प्रयागराज, वर्ष-2023, लेखक का निवेदन में उद्‌त